

नक्सलवादी आन्दोलन में दलित सहभागिता

पंकज सिंह¹

¹असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़, उ०प्र० भारत

पूर्वपीठिका

नक्सलवादी आन्दोलन की राजनीतिक पृष्ठभूमि को विद्यमान राजनीतिक पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। वर्तमान सन्दर्भ में यह आन्दोलन 'नक्सलाइट' आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिम बंगाल में 2 मार्च 1968 को गैर कांग्रेसी, यूनाइटेड फ्रंट सरोर अस्तित्व में आयी। इस बामपंथी सरकार में सी.पी.आई. एम, सी.पी.आई. अन्य बामपंथी दलों तथा बंगाल कांग्रेस जो कांग्रेस से टूटा हुआ था, का बर्चस्व था। यूनाइटेड फ्रंट ने बहु प्रतीक्षित भूमि सुधारों को गरीब एवम् भूमिहीन किसानों के पक्ष में लाने और साहूकारों एवम् महाजनों के पुराने ऋण ग्रस्तता के बोझ को समाप्त करने की घोषणा की थी। विहार में नक्सलवादी आन्दोलन का सामना सर्वोदय आन्दोलन से हुआ। वास्तविकता यह है कि यह सब नक्सलवादी के मात्र तीन वर्षों में ही हो सका— भले ही यह अपने फैलाव, तीव्रता और पैमाने में नेतृत्व तथा कैंडर की संरचना में कितना ही छोटा क्यों न रहा हो—ही इस बात का पर्याप्त कारण है कि इसे क्षणिक और लुप्त हो जाने वाली अवधारणा के रूप में नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत प्रपत्र में विहार में नक्सलवादी आन्दोलन में दलित सहभागिता पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषकों के उफान सी.पी.आई. एम में विद्यमान असहमतियों को प्रदर्शित करते हैं। इन अतिवादी क्रांतिकारी समूहों को या तो पार्टी से निकाल दिया गया था या उन्होने स्वयं को पार्टी से अलग कर लिया था। दार्जिलिंग जिला कमेटी को भंग करना पड़ा। अलग हुए समूहों के बीच 'नक्सलवादी ओ कृषक संग्राम सहायक समिति सर्वाधिक प्रमुख थी। यद्यपि नक्सलवादी आन्दोलन का प्रभाव सारे देश में महसूस किया गया था और बहुत से शहरी शिक्षित युवक उसे नक्सलवादी आन्दोलन का एक हिस्सा मानकर जुड़े किन्तु पश्चिम बंगाल और आन्ध्र प्रदेश में इसका प्रभाव सर्वाधिक महसूस किया गया। विहार में नक्सलवादी आन्दोलन का सामना सर्वोदय आन्दोलन से हुआ। वास्तविकता यह है कि यह सब नक्सलवादी के मात्र तीन वर्षों में ही हो सका— भले ही यह अपने फैलाव, तीव्रता और पैमाने में नेतृत्व तथा कैंडर की संरचना में कितना ही छोटा क्यों न रहा हो—ही इस बात का पर्याप्त कारण है कि इसे क्षणिक और लुप्त हो जाने वाली अवधारणा के रूप में नकारा नहीं जा सकता। (मुखर्जी, 1984)। प्रस्तुत प्रपत्र में विहार में नक्सलवादी आन्दोलन में दलित सहभागिता पर प्रकाश डाला गया है।

विहार की सर्वाधिक जनसंख्या 87 प्रतिशत गांवों में निवास करती है। यहां की जनसंख्या का 55 प्रतिशत हिस्सा भूमिहीन है अर्थात् विहार सर्वाधिक भूमिहीनों वाला राज्य है। (शर्मा, 1982, पृ.12)। विहार की जनसंख्या में 14.70 प्रतिशत भाग दलित जातियों का है। ये दलित जातियां भूमिहीन श्रेणी में आती हैं। विहार में दलित किसान

आन्दोलन के माध्यम से राजनीतिक —सामाजिक परिवर्तन की राजनीति करने वाले नक्सलवादी संगठनों के लिए भूमिहीन दलित मजदूर पर्याय बन गये हैं। यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टियों, समाजवादी संगठनों ने किसान आन्दोलन सम्बन्धी अपनी अलग अलग नीतियों के अनुरूप किसानों को संगठित करने का प्रयत्न किया है किन्तु भूमिहीन मजदूरों के रूप में दलितों को संगठित करने में नक्सलवादियों की अहम भूमिका रही है।

सबसे पहले 1948 में जमींदारी उन्मूलन कानून पारित हुआ किन्तु इसका दलित खेतिहर कामगारों को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि इस कानून में भूमि पुनर्वितरण का कोई प्रावधान नहीं था। वह केवल बटाईदारों को मालिकाना हक देने तक सीमित था। जमींदार भूमि सुधारों के इस स्तर को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस लिए उन्होने आपने प्रति सरकारी हमदर्दी का लाभ उठाकर 1952 तक इस कानून को अदालती लड़ाइयों तक उलझाये रखा और बड़े पैमाने पर बटाईदारों को उनके काश्त से बेदखल करने का अभूतपूर्व सिलसिला चलाया। इस तरह भूमिहीनों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गयी। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बिहार भूमि सुधार कानून की पुष्टि कर दिये जाने तक जमींदारों ने अपने हक सुरक्षित कर लिये थे। इसलिए आजादी के बाद के दशकों में भी सामंती भूमि सम्बन्ध बिहार के ग्रामीण समाज में मुख्य रूप से बने रहे। (दास, 1983)

भारत में लोकतांत्रिक गणराज्य बनने के बाद भी दलित, अमानवीय जीवन स्थितियों एवम् सामाजिक उत्पीड़न से अभिशप्त थे। इन सामाजिक आर्थिक विषमताओं के गर्भ से कई जुझारू आन्दोलनों का उदय हुआ। जिसके कारण खेतिहर मजदूर पूर्व जमींदारों या उनके कारिन्दों के साथ एकताबद्ध हुए और उन्होंने अपने वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए गरीब मध्यम किसानों से एकता के प्रयास किये। इन्हीं संघर्षों का एक अल्प सघन रूप मध्य बिहार का नक्सलवादी आन्दोलन है जो 1967 के बसन्त में उत्तर बंगाल की तराई में आदिवासी किसानों के खिलाफ हुए विद्रोह से प्रभावित होकर प्रारंभ हुआ था (बनर्जी, 1999)। नक्सलवादी और अन्य राजनीतिक शक्तियों द्वारा किये गये किसान आन्दोलनों में एक प्रधान अन्तर यह था कि नक्सलवादी ही अपनी घोषित नीति के रूप में भूमिहीन किसानों को देहाती सर्वहारा के रूप में देखते थे और किसान आन्दोलन के लिए बनाये जाने वाले विभिन्न वर्गों के गठजोड़ में उनका लक्ष्य नेतृत्व के रूप में भूमिहीन हितों को प्रतिष्ठित करने में रहता था। इस दृष्टि से सिर्फ नक्सलवादी आन्दोलन के दौरान ही दलितों के सामने भूमिहीन किसान वर्ग संगठित होकर राजनीतिक प्रक्रिया का नेतृत्व करने की सम्भावना रहती थी।

देश के अनगरीकृत राज्यों में बिहार यदि अग्रणी है तो मध्य बिहार नगरीकरण के अनुपात में बाकी प्रदेश को पीछे छोड़ देता है। (नन्दा, 1991)। पटना, भोजपुर, गया, जहानाबाद, औरंगाबाद जैसे प्रमुख जनपदों में भूमिहारों और राजनूतों की गणना सबसे शक्तिशाली जातियों में की जाती है। जातीय अभिक्रम में दूसरे क्रम पर यादव, कोइरी तथा कुर्मी आते हैं। इन जातियों में कुछ भूमिहीन परिवार और छोटे गरीब किसान हैं। मध्यम श्रेणी की किसान समझी जाने वाली इन तीनों जातियों का राजनीतिक दबदबा तेजी से बढ़ा है। इस प्रक्रिया का सर्वाधिक लाभ यादवों को मिला है जिनके पास सबसे बड़ा संख्याबल भी है। 1931 में उंची जातियां और तीनों मध्यम जातियां कुल जनसंख्या का एक तिहाई थीं। बाकी दो तिहाई में 32 प्रतिशत अति पिछड़ी, 12.5 प्रतिशत मुसलमान, 9.1 प्रतिशत आदिवासी, 14.1 प्रतिशत दलित जातियां थीं। (फ्रेंकल, 1967)। यहां दलितों में भुइयां, मुसहर, चमार, दुसाध, डोम आदि शामिल हैं।

जी ए ग्रीयर्सन ने बिहार पीजेंट लाइफ में उल्लेख किया है कि बेगार और मनमाने टैक्स वसूली के जरिये बिहार सामंती जमींदारों ने किस तरह श्रम अनुबन्धों के पूरे चरित्र को ही निहायत शोषणकारी बना दिया था। आजादी के पहले तक बिहार में अस्थायी खेतिहर मजदूरों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने से अधिक मजदूरी

नहीं मिलती थी। आजादी के बाद 70 के दशक तक बिहार के खेतिहर मजदूरों की मजदूरी में या तो कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई या फिर कुछ इलाकों में उसमें गिरावट आयी। 80 के दशक में कुछ प्रगति जरूर देखी गयी लेकिन आज भी बिहार में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी काफी निचले स्तर पर है।

1948 का न्यूनतम मजदूरी प्रावधान स्वयं में अपर्याप्त है किन्तु बिहार में इसका भी पालन नहीं किया जाता। बिहार में दलित खेतिहर मजदूर बड़े पैमाने पर बंधुआ प्रथा से जकड़े हैं। लेकिन मध्य बिहार में यह बंधुआ प्रथा पुश्त दर पुश्त चलने वाली वह बंधुआ प्रथा नहीं है जो बिहार के अन्य इलाकों या देश के दूसरे क्षेत्रों में है। इसकी संरचना कुछ भिन्न प्रकार की है। मध्य बिहार में एक निश्चित अवधि के लिए खेतिहर काम करने के अनुबंध पर आधारित मजदूरी को बंधुआ मजदूरी की श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसे मजदूरों को हलवाहा कहा जाता है और उनका मुख्य कार्य खेत की जुताई करना है। अस्थायी आधार पर लगाये गये मजदूरों को छुट्टा मजदूर कहा जाता है। हलवाहों को मिलने वाली मजदूरी को हरवाही और छुट्टा मजदूरों को मिलने वाली मजदूरी को रोजाही के नाम से जाना जाता है। हलवाहों और छुट्टा मजदूरों को मजदूरी भुगतान के लिए लम्बा इंतजार करना होता है।

दलित खेतिहर मजदूरों को आर्थिक शोषण के साथ साथ सामंती उत्पीड़न का शिकार भी होना पड़ता है। सीधे तन कर चलना, साफ धोती पहनना और जमींदार के सामने खटिया पर बैठना नामुमकिन था। 20वीं शदी के शुरूआत में ही शाहाबाद वर्तमान में भोजपुर और रोहतास में सामंतों ने डोला प्रथा चला रखी थी जिसके तहत गरीब मजदूरों की नयी बहू को पहली रात जमींदारों के साथ गुजारनी पड़ती थी। मजदूर महिलाओं के साथ सामंत और उसके कारिंदों द्वारा बलात्कार आम बात थी। नीची जाति के औरतों के इस यौन शोषण ने खेतिहर मजदूरों के आन्दोलन में 'इज्जत की लड़ाई' का आयाम जोड़ा। खेतिहर मजदूरों को आत्मसम्मान एवम् गरिमा के प्रश्न पर कई तरह की शिकायतें थी। इन्हें नाम के साथ गालियों की बौछार सहनी पड़ती थी। इस तरह खेतिहर मजदूर एक नामहीन और अस्तित्वहीन रूप में जीवित रहने के लिए बाध्य था। छुआ छूत की प्रथा भी किसी न किसी रूप में जारी थी।

मध्य बिहार की उपर्युक्त ऐतिहासिक परिस्थितियां वहां नक्सलवादी आन्दोलन के लिए उर्वरा थीं। बिहार में पटना, भोजपुर, गया, जहानाबाद और औरंगाबाद में भूमि

सुधार करने में राज्य और कानून की असफलता, आधुनिकीकरण और नगरीकरण की धीमी गति, स्वतंत्रता के पूर्व और बाद में प्रतिरोध के लोकप्रिय आन्दोलनों की समृद्ध परंपरा के चलते दलितों में नक्सलवादी प्रचार प्रसार की सम्भावनायेंब नी हैं। संसदीय राजनीति करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों के किसान आन्दोलनों ने भूमिहीनों को संगठित करने में दिलचस्पी नहीं दिखायी। 1930 में गठित हुए यादवों, कोइरियों और कुर्मियों के त्रिवेणी संघ जैसी संस्थायें भी खाते पीते किसानों के हितों तक ही सीमित रह गयीं। राष्ट्रीय आन्दोलन पर भी प्रभु जातियों का कबजा बना रहा। स्वामी सहजानन्द सरस्वती को भी इस बात का अफसोस था कि किसान आन्दोलन खेतिहर मजदूरों की समस्याओं की उपेक्षा कर रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद खेतिहर प्रश्न को सर्वोदय, गांधीवादी, समाजवादियों, और साम्यवादियों ने अपने अपने तरीके से हल करने की कोशिश की। भूदान आन्दोलन सर्वोदयी धारा का, बोध गया का छात्र युवा संघर्षवाहिनी का आन्दोलन गांधीवादी समाजवादी धारा का, और नक्सलवादी आन्दोलन मार्क्सवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा है। 1967 के अकाल के दौरान सबसे ज्यादा तकलीफ भूमिहीन मजदूरों को हुई। वाहिनी और भाकपा के कतिपय प्रयासों को छोड़कर जब तक इस क्षेत्र में कृषि क्रान्ति का झण्डा बुलन्द करने वाले नक्सलवादी सक्रिय नहीं हुए तब तक खेतिहर मजदूरों को जमींदारों के सामाजिक-आर्थिक शिकंजे से छुड़ाने की किसी संगठित कोशिश का दूर दूर तक पता नहीं था। नक्सलियों ने सहजानन्द की इच्छा को जमीनी स्तर पर उतार कर दिखाया और उनकी किसान सभा की विरासत को अपना लिया।

खेतिहर मजदूरों के सामाजिक संरचना का निर्माण दो तरह के जाति समूहों से मिलकर हुआ है। इनका बड़ा हिस्सा दलितों का है और बाकी पिछड़ी जाति के सदस्य हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मध्य बिहार में दलित ,खेतिहर मजदूरों को उनकी आर्थिक मांगों के आधार पर संगठित करके नक्सलवादियों ने उन्हें दूसरी जातियों के अपनी ही तरह शोषित और दलित समुदायों से जोड़ा और इस तरह जाति की सीमाओं से परे जाकर राजनीतिक दायरे में वर्ग रूपान्तरण की सम्भावनायें पैदा कीं।

मध्य बिहार के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर देश के अन्य हिस्सों की भांति 1967 के बंगाल के तराई इलाके के आदिवासियों में हुए नक्सलवादी आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। नक्सलवादी आन्दोलन का विकास दो चरणों में

हुआ। 1967 से 1977 की अवधि में आन्दोलन शुरुआती दौर से निकलकर कई तरह के उतार चढ़ाव का सामना करते हुए आपात काल के दमन का सामना करते हुए नये चरण में पहुंचा। आपातकाल के दौरान नक्सली गतिविधियां धीमी रहीं। लेकिन 1977 के बाद आन्दोलन ने सफलतापूर्वक अपना पुनर्गठन कर लिया। 1966 में बिहार में 17 नक्सली संगठन सक्रिय थे। यह आन्दोलन संगठनात्मक दृष्टि से तीन महत्वपूर्ण संगठनों – विनोद मिश्र के नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी लेनिनवादी, भाकपा माले, और माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी एम.सी.सी. की उपस्थिति का पर्याय रहा है।

इन नक्सलवादी संगठनों को मध्य बिहार के दलित भूमिहीनों के बीच पैठ बनाने में अतीत के प्रतिरोध आन्दोलनों की पृष्ठभूमि के कारण कुछ आसानी जरूर हुई लेकिन यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है कि नक्सली आन्दोलन के स्रोतों को गुजरे जमाने के जनआन्दोलनों से कितना जोड़ा जा सकता है। अतीत और वर्तमान के बीच कुछ नकारात्मक सूत्र अवश्य मिलते हैं जैसे भूदान आन्दोलन की असफलता क्रांतिकारी भूमि सुधारों को केन्द्र में रखकर चलाये गये इस आन्दोलन की एक अहम वजह हो सकती है। भूदान का गांधीवादी रवैया जमीन को दान की दृष्टि से देखता था। लेकिन नक्सलवादियों ने भूमिहीनों को संदेश दिया कि जमीन उनके अधिकार का विषय है क्योंकि जो जोतता है, बोता है, वही जमीन और उसकी फसल का मालिक होना चाहिए।

अतीत के आन्दोलन के साथ कई तरह की निरंतरताओं के बावजूद नक्सलवादियों का रवैया कई मायने में उनसे भिन्न रहा है। पहली भिन्नता तो आन्दोलन को वर्ग संघर्ष के लक्ष्य पर केन्द्रित करना ही रही है। उन्होंने पहली बार खेतिहर मजदूरों को राजनीतिक रूप से संगठित किया और उनके सरोकारों को प्रभावशाली ढंग से एक राजनीतिक कार्यसूची के तहत सूत्रबद्ध किया। जिस तरह से त्रिवेणी संघ मध्यम जातियों को राजनीतिक रूप से सचेत करने का प्रथम प्रयास था उसी तरह नक्सलवादी आन्दोलन को दलितों की बहुलता वाले खेतिहर मजदूर वर्ग का पहला राजनीतिक उभार कहा जा सकता है। गांधीवादी परंपरा के ठीक विपरीत नक्सलवादियों ने सशस्त्र संघर्ष पर बेहिचक बल दिया। इसके अलावा अन्य स्वातंत्रयोत्तर आन्दोलनों की भांति नक्सलियों ने अपनी दृष्टि को भूमि के स्थानीय असमान वितरण तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने भारतीय राज्य और उनके लोकतांत्रिक दावों को भी सीधी और उग्र चुनौती दी। नक्सली आन्दोलन ने करिश्माई ब्यक्तित्व वाले

नेताओं पर निर्भर न रह कर संसदीय राजनीति की मुख्य धारा के बाहर एक स्थायी, एकजुट और अनुशासित पार्टी बनाने पर जोर दिया।

नक्सलवाद ने निर्विवाद रूप से मध्य बिहार के मजदूरों और दलितों का सबलीकरण किया है। यद्यपि सबलीकरण की यह प्रक्रिया काफी दूर तक चलाये जाने की जरूरत है किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस आन्दोलन के कारण दलितों के आत्मविश्वास में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति में सुधार हुआ है, सामाजिक रूप से वे जमींदारों के दमन को चुनौती देने में सफल हुए हैं और राजनीतिक रूप से इस आन्दोलन ने उन्हें एक ताकत के रूप में बदल दिया है। इस परिवर्तन ने स्थानीय एवम् क्षेत्रीय रूप से सत्ता के समीकरणों को प्रभावित किया है। उस इलाके के दलितों को कमजोर समझने की भूल कोई नहीं कर सकता। यदि आदर नहीं तो उनका निरादर या खुलेआम उपहास नहीं किया जा सकता। कभी कभी तो दमनकारी शक्तियों को भी उनसे डरना भी पड़ता है।

सन्दर्भ

ए.एन.दास: *एग्रोरियन अनटेस्ट एण्ड सोशियो-इकोनॉमिक चेंज इन बिहार*, मनोहर, नई दिल्ली, 1983

एच. आर. शर्मा : डिस्टीव्यूशन आफ लैण्ड होल्डिंग्स इन रूरल इण्डिया, *इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली*, दिल्ली वाल्यू0 26, 25 मार्च 1982

ए.आर.नन्दा : प्रोविजनल पॉपुलेशन टोटल्स : रूरल अर्बन डिस्टीव्यूशन, *संसस आफ इण्डिया*, रजिस्टार जनरल आफ इण्डिया, 1991

सुमन्त बनर्जी : श्री किंग स्पेस : माइनारटी राइट्स इन साउथ एशिया, *साउथ एशिया फोरम फार ह्यूमन राइट्स*, 1999

डी. आर्चर और पी. कॉस्टेलो : *लिट्टेसी एण्ड पावर*, अर्थस्केन, लंदन, 1990

फ्रेंसाइन आर फेंकल और एम.एस.ए.राव संपा : *कास्ट लैण्ड एण्ड डॉमिनेन्स इन बिहार : ब्रेकडाउन आफ दी ब्राह्मनिकल सोशल आर्डर*, आक्सफोर्ड प्रेस, नई दिल्ली, 1967